शोधामृत
(कला, मानविकी और सामाजिक विज्ञान की सहकर्मी समीक्षित, मूल्यांकित, त्रैमासिक शोध पत्रिका)

ISSN : 3048-9296 (Online)
3049-2890 (Print)
IIFS Impact Factor-4.0
Vol.-3; issue-1 (Jan.-March) 2026
Page No- 170-173
©2026 Shodhaamrit
https://shodhaamrit.gyanvividha.com

Author's :

1. डॉ. जयवीर सिंह फर्स्वाण
असि. प्रोफेसर-इतिहास,
बालगंगा महाविद्यालय सेन्दुल (केमर),
टिहरी गढ़वाल, उत्तराखण्ड.

2. डॉ. रेखा बहुगुणा
असि. प्रोफेसर-समाजशास्त्र,
बालगंगा महाविद्यालय सेन्दुल (केमर),
टिहरी गढ़वाल, उत्तराखण्ड.

Corresponding Author :

डॉ. जयवीर सिंह फर्स्वाण
असि. प्रोफेसर-इतिहास,
बालगंगा महाविद्यालय सेन्दुल (केमर),
टिहरी गढ़वाल, उत्तराखण्ड.

आश्रम व्यवस्था : प्राचीन भारत में सामाजिक जीवन का आधार

सारांश : भारतीय सामाजिक संगठन के दो मूलाधार आश्रम व्यवस्था और वर्ण व्यवस्था है। आश्रम व्यवस्था का उद्देश्य प्रत्येक व्यक्ति की ऐच्छिक और पारलौकिक उन्नति था जबकि वर्ण व्यवस्था का उद्देश्य प्रत्येक प्राणी को समाज के लिए उपयोगी बनाना था। ये दोनों व्यवस्थाएं भारतीय जीवन-दर्शन पर आधारित थी। प्राचीन काल में भारतवासी प्रायः दीर्घजीवी होते थे। ईषोपनिषद में लिखा गया है कि मनुष्य को सौ वर्ष जीने की कामना करनी चाहिय सौ वर्ष का यह कल्पित जीवन चार आश्रमों में विभक्त किया गया था। आश्रम व्यवस्था हिन्दू धर्म में जीवन के चार चरणों की एक पारंपरिक प्रणाली है, जो व्यक्ति के जीवन को विभिन्न चरणें में विभाजित करती है। ये चरण हैं : प्रथम चरण ब्रह्मचर्य आश्रम है जो शिक्षा और अध्ययन का चरण है, इस आश्रम या चरण में व्यक्ति शिक्षा और अध्ययन पर ध्यान केन्द्रित करता है, और ब्रह्मचारी के रुप में जीवन व्यतीत करता है। द्वितीय गृहस्थ आश्रम है, इसे परिवार और समाज का चरण कहा जाता है, इसमें व्यक्ति विवाह करता है, परिवार का निर्माण करता है और समाज में योगदान देता है। तीसरा वानप्रस्थ आश्रम है जो सेवा और त्याग का चरण है। इस चरण में व्यक्ति अपने परिवार की जिम्मेदारियों से युक्त होता है और समाज की सेवा में लग जाता है। चौथा संन्यास आश्रम है। यह आध्यात्मिक जीवन का चरण है इसमें व्यक्ति पूर्ण रुप से आध्यात्मिक जीवन में समर्पित होता है और आत्म-ज्ञान तथा मोक्ष की खोज में लग जाता है। वस्तुतः आश्रम का मूल उद्देश्य अपने सम्पूर्ण दायित्वों का निर्वहन कर मोक्ष की प्राप्ति करना है।

परिचय : प्रत्येक भारतीय के लिये उसका जीवन आत्मसंयम की पाठशाला है। इस पाठशाला में अध्ययन के चार स्तर हैं, ये स्तर ही चार आश्रम कहलाते हैं। ये चार स्तर हैं, ये स्तर ही चार आश्रम कहलाते हैं। ये चार आश्रम मनुष्यों के उन कर्तव्यों की पूर्ति पर आधारित हैं जो उसे अपने जीवन के लक्ष्य की आरे ले जाने में सहायक सिद्ध हो सकते हैं। आश्रम शब्द श्रम शब्द से बना है, जिसका अर्थ है मेहनत करना। प्राचीन भारतीय ऋषि-मुनियों ने तत्कालीन समाज के व्यवसायिक संचालन हेतु

मनुष्य के जीवन को सौ वर्ष का मानते हुए चार आश्रमों की व्यवस्था की थी और प्रत्येक आश्रम की सीमा 25 वर्ष निर्धारित की थी। आश्रमों के मनोवैज्ञानिक तथा नैतिक आधार के समझने के लिए चार पुरुषार्थों के सिद्धान्तों को समझना आवश्यक है। जीवन के चार उद्देश्य माने जाते थे- धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। जीवन का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष माना गया है। इसका आशय यह है कि मानव की शाश्वत् प्रकृति आध्यात्मिक है और जीवन का उद्देश्य इसको प्रकाशित करना तथा इसके द्वारा ज्ञान और आनंद प्राप्त करना है। ऋषियों की धारण थी कि मानव की भलाई इसी में है कि वह जीवन-मृत्यु के चक्र से और संसार के दुखों से छुटकारा पा जाये और फिर उसे इस संसार में जन्म न लेना पड़े। इसी छुटकारे की अवस्था को पुरुषार्थों में मोक्ष कहा गया है। ऋषियों ने चारों पुरुषार्थों की प्राप्ति के लिये ही चारों आश्रमों की व्यवस्था बनाई थी। आश्रमों में अपना कर्तव्य पूरा करके ही मनुष्य चारों पुरुषार्थों का उचित प्रशिक्षण प्राप्त करता है।

उत्तर-वैदिक काल में वर्ण व्यवस्था के साथ-साथ आश्रम व्यवस्था का भी विकास किया गया। वस्तुतः आश्रम व्यवस्था के द्वारा कर्म और ज्ञान में सन्तुलन स्थापित किया गया। इसके द्वारा मानव जीवन को अनुशासित करने का प्रयास किया गया। इस उद्देश्यों की दृष्टि से मानव जीवन को चार आश्रमों अथवा भागों में विभाजित किया गया। ये आश्रम ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास थे। प्रत्येक आश्रम 25 वर्षों का था। इस प्रकार सौ वर्ष आयु के मानव जीवन की आदर्श कल्पना की गई। इन आश्रमों का उद्देश्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को प्राप्त करना था।

वस्तुतः आश्रम व्यवस्था कर्मकाण्ड विरोधी थी और इसमें ज्ञान मार्ग पर जोर दिया गया था। ऋग्वेदिक काल में आश्रम व्यवस्था के बारे में कोई विशेष उल्लेख नहीं मिलता है, लेकिन उत्तर वैदिक काल में आश्रम व्यवस्था के बारे में विस्तार से वर्णन मिलता है। उत्तर वैदिक काल में ही आश्रम व्यवस्था को एक महत्वपूर्ण स्थान दिया गया था, और यह हिन्दू धर्म के जीवन के एक महत्वपूर्ण अंग के रूप में विकसित हुआ था।

छांदोग्य उपनिषद में केवल तीन आश्रमों का उल्लेख मिलता हैः ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ। किन्तु बाद के उपनिषदों में चारों आश्रमों का वर्णन मिलता है। इसका अर्थ यह हुआ कि प्रारम्भ में संन्यास को आश्रम नहीं माना जाता था। धर्म सूत्रों के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को इन चारों आश्रमों के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को इन चारों आश्रमों के नियमों का पालन करना चाहिए। कई सूत्रकारों का यह भी मानना है कि जिसक व्यक्ति ने पहले तीन आश्रमों के नियमों का विधि पूर्वक पालन नहीं किया है वह मोक्ष के लिए प्रयत्न करने का अधिकारी नहीं माना जा सकता था। कौटिल्य का मत है कि अहिंसा, सत्य, पवित्रता, इर्ष्या न करना दया और सहिष्णुता ऐसे गुण हैं, जिनका सभी आश्रमों में सबको अनुशरण करना चाहिए। राजा को उन सबको दण्ड देना चाहिए जो अपने आश्रमों के कर्तव्यों का पालन न करे क्योंकि इसस समाज में अव्यवस्था फैल जायेगी और संसार नष्ट हो जायेगा। यदि सभी व्यक्ति इन नियमों का पालन करेंगे तो समाज की उन्नति होगी।

आश्रम के उद्देश्य : भारतीय समाज के संगठन, लोक व्यवस्था के कल्याणार्थ व संचालन के लिए भारतीय विद्वानों ने आश्रम व्यवस्था को स्वीकार किया। भारतीय विद्वानों ने मानव जीवन के चार प्रयोजन (पुरुषार्थ) धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष का निर्धारण किया। मनुष्य को इन चारों प्रयोजन की सिद्धि के लिए विशिष्टश्रम की आवश्यकता थी। आश्रम व्यवस्था मनुष्य जीवन को चार भागों में इस प्रकार विभाजित करती है कि पहले वह ज्ञान की प्राप्ति करे, फिर संसार की वास्तविकताओं को भोगे, उसके बाद सांसारिक दुखों से अपने को दूर रखकर ईश्वरीय ज्ञान प्राप्त करे तथा अन्त में उसी परम सत्य की खोज में अपना उत्सर्ग कर उसी में एकाकार होने के लिए प्रयत्नशील हो। आश्रम व्यवस्था के उद्देश्य निम्नलिखित हैं -

(1) जीवन की दिशा और उद्देश्य प्रदान करना।
(2) सामाजिक और पारिवारिक जिम्मेदारियों का निर्वहन।
(3) आध्यात्मिक विकास और आत्म-ज्ञान की प्राप्ति।

(4) जीवन के विभिनन चरणों में संतुलन।

(5) मोक्ष की प्राप्ति।

आश्रम के प्रकार : आश्रम व्यवस्था प्रमुख रुप से एक नैतिक मानसिक व्यवस्था है, जिसके अन्तर्गत व्यक्ति को अपनी आयु के विभिनन स्तरों में पृथक-पृथक दायित्वों का निर्वाह करते हुए जीवन के अभीष्ट लक्ष्य को पाना ाहै अर्थात आश्रम व्यवस्था में एक प्रकार की प्रशिक्षण की प्रक्रिया है। भारतीय मनीषियों ने मनुष्य की आयु सौ वर्ष निर्धारित की है, इस आयु को चार बराबर भागों में बांटकर चार आश्रम बनाये गये हैं। आश्रम के प्रकारों का विस्तृत विववरण निम्नवत् हैं -

(1) ब्रह्मचर्य आश्रम : उपनयन संस्कार के बाद बालक ब्रह्मचर्य आश्रम में प्रवेश करता था। इस संस्कार का सबसे प्राचीन उल्लेख अर्थवेद में है। ब्रह्मचारी को यज्ञोपवित, मेखला और दंड धारण करना पड़ता था। जब आचार्य को यह विश्वास हो जाता था कि बालक वास्तव में ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करेगा तब वह उसे अपना शिष्य बना लेता था। उपनयन संस्कार को बालक का दूसरा जन्म समझा जाता था। इसीलिए उसे 'द्विज' कहा जाता था। इस आश्रम में शिष्य को निर्धारित पोषाक पहननी पड़ती थी, आश्रम में रहना पड़ता था और सभी कार्यों में गुरु की सहायता करनी पड़ती थी। आचार्य ब्रह्मचारी से अपने पुत्र की भांति प्रेम करता था और बड़े ध्यान से आत्म-विद्या और धर्मशास्त्र पढ़ाता था। इस समय ब्रह्मचारी के तीन कर्तव्य थे: वैदिक ग्रन्थों का स्वाध्याय, आचार्य की सेवा और ब्रह्मचर्य का पालन करना। इस आश्रम में मन, वचन, कर्म से सत्य और धर्म का पालन, आचार्य, माता-पिता और अतिथियों की सेवा, ईश्वर में विश्वास आदि गुणों के विकास पर बहुत बल दिया जाता था। इस आश्रम में बौद्धिक विकास के साथ-साथ चरित्र निर्माण पर बहुत ध्यान दिया जाता था। कौटिल्य ने लिखा है कि शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य इन्द्रियों को वश में करना है, जिसकी इन्द्रियां वश में नहीं हैं वह शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। इसीलिए ब्रह्मचारी को काम, क्रोध, लोभ, मान, मद और अत्यधिक हर्ष का त्याग करना चाहिए। इस आश्रम की समयावधि 1-25 वर्ष तक थी।

(2) गृहस्थ आश्रम : इस आश्रम की समयावधि 25-50 वर्ष तक मानी गयी है। विद्याा समाप्ति के बाद ब्रह्मचारी घर जाता था इसे समावर्तन कहते थे। इसके बाद वह ब्रह्मचर्य आश्रम के व्रतों से मुक्त होने के लिए स्नान करता था और उसे स्नातक कहते थे। स्नातक विवाह करके गृहस्थाश्रम में प्रवेश होने का अधिकारी माना जाता था। इस आश्रम में प्रविष्ट होकर वह सांसारिक सुखों का उपभोग करता और पुत्रोत्पति करके अपने वंश की परम्परा को बनाये रखता था। वह अपने बालकों, मित्रों संबंधियों, पड़ोसियों के प्रति अपने कर्तव्यों का निर्वहन करते हुए एक परिश्रमी तथा योग्य नागरिक बन जाता था। गृहस्थ के दैनिक कर्तव्यों में पंच महायज्ञों, देवयज्ञ, ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञ, अतिभियज्ञ और भूतयज्ञ का विशेष महत्व था। इन यज्ञों के द्वारा वह गृहस्थ के रूप में परिवार और समाज के प्रति अपने सभी कर्तव्यों को पूरा करता था। इससे उसका निजि कल्याण होता था और वह समाज की उन्नति में योगदान देता था। इसीलिए गृहस्थाश्रम भारतीयों के जीवन में इतना महत्व रहा है। बौधायन धर्मसूत्र में दो प्रकार का उल्लेख है। शालीन जिनका अपना घर और संपत्ति होती थी और यायावर जो संपत्ति इकट्ठा नहीं करते थे। महाभारत में स्पष्ट कहा गया है कि गृहस्थ का जीवन श्रेष्ठ और पवित्र है।

(3) वानप्रस्थ आश्रम : इस आश्रम के अन्तर्ग व्यक्ति अपने परिवार, घर और गाँव को छोड़कर वन में जाकर रहता था। उसका प्रमुख उद्देश्य इंद्रियों को वश में करना था। वह कम वस्त्र पहनता था और केवल भिक्षा के लिए गाँव में जाता था। इस आश्रम में वह कंदमूल फल खाकर जीवन निर्वाह करता था। भूमि पर शयन करता था और तपस्या करके अपने शरीर के प्रति उदासीनता जागृत करता था। समस्त प्राणियों के प्रति वह दया भाव रखता था। वानप्रस्थी भी सामाजिक वर्तव्यों की पूर्ति करता था। इसी कारण उसे अपनी पत्नी को साथ रखने की अनुमति दी गयी थी। वानप्रस्थी अपने परिवार, ग्राम या नगरों की सदस्यता से मुक्त होकर भी समाज के प्रति अपने कर्तव्यों से मुक्त नहीं होता था। जीवन की सादगी, वन की शांति और स्वतन्त्रता उसे अपनी आध्यात्मिक उन्नति के लिये उचित

वातावरण प्रदान करती थी। बौधायन धर्मसूत्र में वान प्रस्थ के दो प्रकार बताये हैं। 'पंचमानक' जो अपना भोजन स्वयं पकाकर खाते थे और अपच मानक जो अपना भोजन नहीं पकाते थे। ये कंदमूल फल खाकर उदरपूर्ति करते थे। मृगचर्म या वृक्षों की छाल के कपड़े पहनते थे, वृक्ष के नीचे निवास करते थे और पंच महायज्ञों को करता था। इस आश्रम की समयावधि 50-75 वर्ष बतायी गई है।

(4) संन्यास आश्रम : वानप्रस्थ के बाद व्यक्ति संन्यास आश्रम में प्रवेश करता था। यह आश्रम 75-100 वर्ष के बीच का बताया गया है इस आश्रम में व्यक्ति किसी वस्तु का संग्रह नहीं करता था। वह किसी पर आश्रित नहीं रहता था और उसे दिन में एक बाद भिक्षा मांगने का अधिकार था। वह जीवन और मृत्यु से उदासीन रहता था, कठोर वचन भी धैर्य से सुनता था, माया और घृणा का पूर्णतः त्याग करता था। प्रत्येक वस्तु से निवृत्ति, उद्देश्य की दृढ़ता, ब्रह्म में आस्था और उसका चिंतन करके वह मुक्ति के परमानंद की कामना करता था। संन्यासी वह श्रेष्ठ पुरुष था जो सत्य, असत्य, सुख, दुःख इस संसार और परलोक की परवाह न करके वह केवल आत्मा की खोज में लग जाता था। हिन्दुओं का विश्वास था कि इस प्रकार उस व्यक्ति के सभी पाप नष्ट हो जाते हैं और वह जीवन के लक्ष्यों को प्राप्त कर लेता है। इस आश्रम में संन्यासी केवल मोक्ष की प्राप्ति के लिए पूर्ण प्रयत्न करता है।

निष्कर्ष : आश्रम व्यवस्था हिन्दू धर्म में जीवन को एक अर्थपूर्ण और संतुलित तरीकें से जीने का एक मार्गदर्शक है। आश्रम व्यवस्था में व्यक्ति जीवन की दिशा और अपने उद्देश्य की प्राप्ति करता है। सामाजिक और पारिवारिक जिम्मेदारियों का निर्वाह करता है। आध्यामिक विकास के साथ आत्मज्ञान की प्राप्ति करते हुए अपने जीवन के सच्चे उद्देश्य मोक्ष की प्राप्ति करता है। अतः उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि आश्रम व्यवस्था प्राचीन भारती निवासियों के सामाजिक जीवन का प्रमुख आधार था, जिसका भलीभांति पालन करते हुए वे विभिन्न चरणों को पार करते हुए अन्त में मोक्ष की प्राप्ति करते थे और मोक्ष ही उनके जीवन का परम लक्ष्य होता था।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची:-

1. ओम प्रकाश: प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास, बाइली इस्टर्न लिमिटेड, नई दिल्ली।
2. बौधायन धर्म सूत्र: 3,1, 1-15.
3. मनुः: 6, 85.
4. महाभारत, शान्तिः: अध्याय 61, श्लोक 11, 17.
5. उपाध्याय, रामजी : भारत की प्राचीन संस्कृति। लोक भारती 15-ए0 महात्मा गांधी मार्ग, इलाहबाद।
6. काला, सतीशचन्द्र : मोहन जोदड़ों तथा सिन्धु-सभ्यता।
7. वर्मा, एस0 आर0: इतिहास। एस0बी0 पी0डी0 पब्लिकेशन्स आगरा।
8. तिलक, लोकमान्य: गीत रहस्य।
9. Sharma, R.S. : Light of Early Indian society and Economy.
10. Dutt, R.C. : History of Civilisation in Ancient – Indian.

•